प्राकृत एवं अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं पर प्रभाव

✫ डा० महावीरसरन जैन, एम. ए., डी. फिल., डी. लिट.
[स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा-विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर]

□

प्राकृत एवं अपभ्रंश के विविध भाषिक रूपों से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विविध रूपों का विकास १०वीं से १२वीं शताब्दी के बीच में हुआ। यह बात अलग है कि इस विकास परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना एक सीमा तक असम्भव-सा है। इस सम्बन्ध में अभी तक जितने कार्य सम्पन्न हुए हैं उनमें अधिकांशतः अज्ञात से ज्ञात की ओर आया गया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना जरूरी है कि ज्ञात से अज्ञात की ओर वैज्ञानिक ढंग से उन्मुख होने पर ही अज्ञात-अनुपलब्ध रूपों को पुनर्निमित किया जा सकता है और पुनर्निर्माण के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होकर ही प्राकृत से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक की विकास यात्रा का वैज्ञानिक अध्ययन अंशतः सम्पन्न किया जा सकता है।

आज हमारे पास प्राकृत एवं अपभ्रंश की जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की सारी कड़ियाँ अलग-अलग सुस्पष्ट रूप से जोड़ पाना दुष्कर कार्य है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) हमारे पास प्राकृतयुग एवं अपभ्रन्श युग के साहित्यिक भाषिक रूप ही उपलब्ध हैं। मध्य भारतीय आर्यभाषाकाल में उसके सम्पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न भाषाओं के जो विविध क्षेत्रीय एवं वर्गीय भाषिक रूप बोले जाते होंगे, वे उपलब्ध नहीं हैं।

(२) प्राकृत एवं अपभ्रंश के जो साहित्यिक भाषा रूप प्राप्त हैं उनके क्षेत्रीय प्रभेदों का विवरण मिलता है। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि उपलब्ध क्षेत्रीय भेद आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं यथा—पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, असमिया, उड़िया आदि की भाँति भिन्न साहित्यिक भाषाएँ हैं अथवा उस काल की किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत अथवा साहित्यिक अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूप हैं। दूसरे शब्दों में, प्राकृतों के उपलब्ध क्षेत्रीय रूप भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं अथवा किसी एक ही भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं।

इस दृष्टि से जब हम विविध प्राकृत रूपों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इनका नामकरण विभिन्न दूरवर्ती क्षेत्रों के आधार पर हुआ है तथापि इनमें केवल उच्चारण के धरातल पर थोड़े से ध्वन्यात्मक अन्तर ही प्रमुख हैं। महाराष्ट्री में स्वर बाहुल्यता है, द्विस्वरान्तर्गत व्यंजन का लोप हो जाता है तथा श्, ष्, स् संघर्षी ध्वनियाँ काकल्य संघर्षी 'ह' में बदल जाती हैं। शौरसेनी में द्विस्वरान्तर्गत स्थिति में अघोष व्यंजनों का घोषीकरण हो जाता है। मागधी प्राकृत में र् > ल् में तथा मूर्धन्य 'ष्' तथा दन्त्य 'स्' > तालव्य 'श्' में परिवर्तित हो जाते हैं। अर्ध-मागधी प्राकृत में दन्त्य 'स्' > मूर्धन्य तथा मूर्धन्य 'ष्' एवं तालव्य 'श्' > दन्त्य 'स्' में परिवर्तित हो जाते हैं तथा द्विस्वरान्तर्गत श्रुति का आगम हो जाता है। पैशाची प्राकृत में सघोष > अघोष; र् > ल तथा मूर्धन्य 'ष्' > श् स् में परिणत हो जाते हैं।

प्राकृतों के ये अन्तर अथवा इनकी विशिष्ट विशेषतायें इतनी भेदक नहीं हैं कि इन्हें अलग-अलग भाषाओं का दर्जा प्रदान किया जा सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मराठी, हिन्दी, गुजराती, बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में केवल थोड़े से उच्चारणगत भेद ही नहीं हैं अपितु इनमें भाषागत भिन्नता भी है; पारस्परिक संरचनात्मक एवं व्यवस्थागत अन्तर है तथा पारस्परिक अवबोधन का अभाव है। आज कोई मराठीभाषी मराठी भाषा के द्वारा मराठी से अपरिचित हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के व्यक्ति को भाषात्मक स्तर पर अपने विचारों, संवेदनाओं का बोध नहीं करा पाता। भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति एक-दूसरे के अभिप्राय को संकेतों, मुखमुद्राओं, भावभंगिमाओं के माध्यम से भले ही समझ जावे भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाते। किन्तु अर्धमागधी का विद्वान मागधी अथवा शौरसेनी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत को पढ़कर उनमें अभिव्यक्त विचार को समझ लेता है। इस रूप में जो साहित्यिक प्राकृत रूप उपलब्ध हैं उनका नामकरण भले ही सुदूरवर्ती क्षेत्रों के आधार पर हुआ हो किन्तु तत्त्वतः ये उस युग के जन-जीवन में उन विविध क्षेत्रों में बोली जाने वाली भिन्न-भिन्न भाषायें नहीं हैं और न ही आज की भाँति इन क्षेत्रों में लिखी जाने वाली भिन्न साहित्यिक भाषायें हैं, प्रत्युत एक ही मानव अथवा साहित्यिक प्राकृत के क्षेत्रीय रूप हैं।

ऐसा नहीं हो सकता कि दसवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद तो भिन्न-भिन्न भाषायें विकसित हो गयी हों किन्तु उसके पूर्व प्राकृत युग में पूरे क्षेत्र में भाषात्मक अन्तर न रहे हो। आधुनिक युग में 'भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र' में जितने भाषात्मक अन्तराल हैं, उसकी अपेक्षा प्राकृत युग में 'भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र' में भाषात्मक अन्तराल कम होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; ये निश्चय ही बहुत अधिक रहे होंगे। प्राकृत युग १ ईस्वी से ५०० ईस्वी तक है। आधुनिक युग की अपेक्षा डेढ़-दो हजार साल पहले तो सामाजिक-सम्पर्क निश्चित ही बहुत कम होगा फिर भाषात्मक अन्तराल के कम होने का सवाल कहाँ उठता है? सामाजिक सम्पर्क जितना सघन होगा; भाषा विभेद उतना ही कम होगा। आधुनिक युग में तो विभिन्न कारणों से सामाजिक सम्प्रेषणीयता के साधनों का प्राकृत युग की अपेक्षा कई-कई गुना अधिक विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त नागरिक जीवन, महानगरों का सर्वभाषायी स्वरूप, यायावरी वृत्ति, शिक्षा, भिन्न-भाषायी क्षेत्रों में वैवाहिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक केन्द्रीय शासन आदि विविध तत्त्वों के द्रुत विकास एवं प्रसार के कारण आज भिन्न-भिन्न भाषाओं के बीच परस्पर जितना आदान-प्रदान हो रहा है उसकी डेढ़ दो हजार साल पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इनके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल में तो अरबी, फारसी, अँग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली, ध्वनियों एवं व्याकरणिक रूपों ने सभी भाषाओं को प्रभावित किया है। इतना होने पर भी आज भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भाषाओं में पारस्परिक बोधगम्यता नहीं है। आज भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र में जितनी भिन्न भाषायें एवं किसी भाषा के जितने भिन्न-भिन्न उपरूपों का प्रयोग होता है; प्राकृत युग में तो उस क्षेत्र में निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक संख्या में भिन्न भाषाओं तथा उनके विभिन्न क्षेत्रीय उपरूपों का प्रयोग होता होगा किन्तु हमें आज तो प्राकृत रूप उपलब्ध हैं वे एक ही प्राकृत के क्षेत्रीय रूप है जिनमें बहुत कम अन्तर है। एक भाषा की क्षेत्रीय बोलियों में जितने अन्तर प्रायः होते हैं उससे भी बहुत कम। भाषा की बोलियों के अन्तर तो सभी स्तरों पर हो सकते हैं जबकि इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों में तो केवल उच्चारणगत भेद ही उपलब्ध हैं। विभिन्न प्राकृतों को देश-भाषाओं के नाम से अभिहित किया गया है किन्तु तात्विक दृष्टि से ये देश की अलग-अलग भाषायें न होकर एक ही प्राकृत भाषा के देश-भाषाओं से रंजित रूप हैं। एक ही मानक साहित्यिक प्राकृत के विविध क्षेत्रीय रूप हैं जिनमें स्वभावतः विविध क्षेत्रों की उच्चारणगत भिन्नताओं का प्रभाव समाहित है। आधुनिक दृष्टि से समझना चाहें तो ये हिन्दी, मराठी, गुजराती की भाँति भिन्न भाषायें नहीं है अपितु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा के ही 'कलकतिया हिन्दी,' 'बम्बइया हिन्दी,' 'नागपुरी हिन्दी' जैसे रूप हैं।

मेरी इस प्रतिपत्तिका का आधार केवल भाषा वैज्ञानिक नहीं है; इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी सम्भव है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र[१] में यह विधान किया है कि नाटक में चाहे शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जावे चाहे अपनी इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का, क्योंकि नाटक में नाना देशों में उत्पन्न हुए काव्य का प्रसंग आता है। उन्होंने देश-भाषाओं का वर्णन करते हुए उनकी संख्या सात बतलायी है—(१) मागधी, (२) आवंती, (३) प्राच्या (४) शौरसेनी, (५) अर्धमागधी, (६) बाल्हीका, (७) दाक्षिणात्या।

इस विवेचन के आधार पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भरत मुनि सात भाषाओं की बातें कर रहे हैं, किन्तु यदि हम संदर्भ को ध्यान में रखकर विवेचना करें तो पाते हैं कि भरत मुनि यह विधान कर रहे हैं कि नाटककार किसी भी नाटक में इच्छानुसार देश प्रसंग के अनुरूप किसी भी देशभाषा का प्रयोग कर सकता है। कोई भी नाटककार अपने नाटक में पात्रानुकूल भाषा नीति का समर्थक होते हुए भी विविध भाषाओं का प्रयोग नहीं करता, न ही कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। इसका कारण यह है कि उसे ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है जिसका अभिनेता ठीक प्रकार उच्चारण कर सके और उस नाटक का दर्शक समाज भिन्न-भिन्न पात्रों के भिन्न-भिन्न सम्वादों को समझ सके। यदि सम्प्रेषणीयता ही नहीं होगी तो 'रस' कैसे उत्पन्न होगा ? यही कारण है कि समाज के विविध स्तरों एवं विभिन्न क्षेत्रों के पात्रों के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते समय एक ही भाषा के विविध रूपों तथा उस भाषा के अन्य भाषियों के उच्चारण-लहजों के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। कोई हिन्दी नाटककार अपने हिन्दी नाटक में बंगला भाषी पात्र से बंगला भाषा में नहीं बुलवाता अपितु उसकी हिन्दी को बंगला उच्चारण से रंजित कर देता है।

इस दृष्टि से सात देशभाषायें अलग-अलग भाषायें नहीं हैं, किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत के भिन्न देशों की भाषाओं से रंजित रूप हैं। यदि ये देशभाषायें अलग-अलग भाषायें ही होतीं तो भरत मुनि यह विधान न करते कि अन्तःपुरनिवासियों के लिए मागधी; चेट राजपुत्र एवं सेठों के लिए अर्धमागधी, विदूषकादिकों के लिये प्राच्या; नायिका और सखियों के लिए शौरसेनी मिश्रित आवंती; योद्धा, नागरिकों और जुआरियों के लिए दाक्षिणात्या और उदीच्य, खसों, शबर, शकों तथा उन्हीं के समान स्वभाव वालों के लिए उनकी देशी भाषा वाल्हीका उपयुक्त है।[२] जहाँ तक इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों के प्रयोग का प्रश्न है शौरसेनी प्राकृत का उपयोग संस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा के रूप में हुआ है। मागधी प्राकृत में कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। संस्कृत नाटककार निम्न श्रेणी के पात्रों से मागधी का प्रयोग कराते हैं। अर्धमागधी में मागधी एवं शौरसेनी दोनों की प्रवृत्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। महाराष्ट्री प्राकृत को आदर्श प्राकृत कहा गया है।[3] दण्डी ने यद्यपि महाराष्ट्री को महाराष्ट्र आश्रित भाषा कहा है तथापि सत्य यह है कि यह क्षेत्र-विशेष की प्राकृत न होकर शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती विकसित रूप है। यह जरूर विवादास्पद है कि शौरसेनी एवं महाराष्ट्री का अन्तर कालगत है अथवा शैलीगत। कालगत अन्तर माननेवालों का तर्क है कि प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री का अनुशासन आठवीं शताब्दी के पश्चात् निबद्ध किया है। डा० मनमोहन घोष ने स्थापित किया कि प्राचीन शौरसेनी महाराष्ट्री की जननी है।[४] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की एक अवस्था को महाराष्ट्री प्राकृत माना है।[५] इनका शैलीगत अन्तर मानने वालों में स्टेन कोनो प्रमुख हैं जिन्होंने यह नियम प्रतिपादित किया कि पद्य की महाराष्ट्री एवं गद्य की शौरसेनी होती है। शौरसेनी में द्विस्वरान्तर्गत व्यंजनों का घोषीकरण अर्थात् व्यंजन वर्ग के प्रथम व्यंजन के स्थान पर उसी वर्ग के तृतीय व्यंजन की स्थिति पायी जाती है जबकि महाराष्ट्री में द्विस्वरान्तर्गत व्यंजनों का लोप होकर स्वर बाहुल्य स्थिति हो जाती है।

डा० मनमोहन घोष ने विकास एवं शैली में तारतम्य स्थापित कर प्रतिपादित किया कि पहले शौरसेनी प्राकृत थी जिसमें गद्य रचना हुई। संस्कृत के नाटककार जब गद्य में पात्रों से वार्तालाप कराते थे तो शौरसेनी प्राकृत का उपयोग करते थे क्योंकि वह तत्कालीन जनता के भाषिक रूपों के निकट थी। बाद में उसका विकास महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में हुआ। जब कवियों ने पद्यरचना में महाराष्ट्री प्राकृत का उपयोग किया तो उन्होंने मृदुता के लिए व्यंजनों का लोप कर भाषा को स्वर बाहुल्यता प्रदान कर दी।[६]

प्राकृतों की भाँति ही अपभ्रंशों की भी स्थिति है अपभ्रंश शब्द के भाषागत प्रयोग का जो प्राचीनतम उल्लेख प्राप्त है उसमें तो अपभ्रंश किसी भाषा के लिये प्रयुक्त न होकर संस्कृत के विकृत रूपों के लिए प्रयुक्त मिलता है।[७] नाट्यशास्त्रकार के समय प्राकृतों के युग में अपभ्रंश एक बोली थी। कालान्तर में इस बोली रूप अपभ्रंश पर आधारित मानक अपभ्रंश का उत्तरोत्तर विकास हुआ जिसका स्वरूप स्थिर हो गया। अपनी इसी स्थिति के कारण हिमालय से सिन्धु तक इसका रूप उकार बहुला था। प्राकृतों के साहित्यिक युग के पश्चात् उकार बहुला अपभ्रंश साहित्यिक रचना का माध्यम बनी। आठवीं-नौवीं शताब्दी तक राजशेखर के समय तक यही अपभ्रंश सम्पर्क भाषा के रूप में पंजाब से गुजरात तक व्यवहृत होती थी।

"समस्त मरु एवं टक्क, और भादानक में अपभ्रंश का प्रयोग होता है।[८] तथा सौराष्ट्र एवं त्रवणादि देशों के लोग संस्कृत को भी अपभ्रंश के मिश्रण सहित पढ़ते हैं[९] जैसी उक्तियां इसकी परिचायक हैं।

आगे चलकर इसी मानक साहित्यिक अपभ्रंश रूप के विविध क्षेत्रों में उच्चारण भेद हो गए। नौवीं शताब्दी में ही रुद्रट ने स्वीकार किया कि अपभ्रंश के देशभेद से बहुत से भेद हैं।[१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश भाषा के उपनागर, आभीर एवं ग्राम्य भेदों को 'भूरिभेद' कहकर अर्थात् भूमि की भिन्नता के कारण एक ही भाषा के स्वाभाविक भेद बतलाकर रुद्रट ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है।

ईसा की १२वीं शताब्दी तक अपभ्रंश लोकभाषा न रहकर साहित्य में प्रयुक्त होने वाली रुढ़ भाषा बन चुकी थी। वस्तुतः ११वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के प्राचीन भाषारूपों में लिखित साहित्यिक ग्रन्थ मिलने आरम्भ हो जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि बोलचाल की भाषा के रूप में तो अपभ्रंश के विविध रूप ६०० ई० या अधिक से अधिक १००० ई० तक ही व्यवहृत होते होंगे। अपभ्रंश के इन विविध रूपों की सामग्री, जिनसे विविध आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ, उपलब्ध नहीं है। अपभ्रंश के देशगत भेद उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक विद्यमान रहे होंगे जिस प्रकार आज आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के भेद विद्यमान हैं।

विष्णु धर्मोत्तरकार के अनुसार तो स्थानभेद के आधार पर अपभ्रंश के भेदों का अन्त ही नहीं है।[11] प्राकृत सर्वस्व से भी पता चलता है कि अपभ्रंश के २७ भेद स्वीकृत थे।[12]

'प्राकृतानुशासन' में भी नागर, व्राचड, उपनागर, पंचाल, वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौड़ी, टक्क, बर्बर, कुन्तल, पांड्य तथा सिंहल आदि अपभ्रंशों का उल्लेख है।

अपभ्रंश के विविध रूप बोले जाते थे इसमें कोई सन्देह नहीं है किंतु इन भिन-भिन रूपों में साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इनका परिचय प्राप्त नहीं है। अपभ्रंश साहित्य का विकास मालवा, राजस्थान तथा गुजरात में ही हुआ। इन्हीं प्रदेशों की अपभ्रंशों के आधार पर विकसित साहित्यिक अपभ्रंश में साहित्यिक रचना हुई। इसी साहित्यिक अपभ्रंश का रूप आज सुरक्षित है जिसमें कालान्तर में प्रत्येक प्रदेश के साहित्यकारों ने साहित्य रचना की। इस प्रकार साहित्य के रूप में जिस मानक अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है उसमें प्राकृतों की भाँति यत्किंचित् स्थानीय भेदों की झलक तो है किन्तु वस्तुतः वे एक ही साहित्यिक अपभ्रन्श भाषा के रूप है।

(३) अपभ्रंश के विविध रूपों से निःसृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का जो रूप बोला जाता होगा उसकी भी हमें जानकारी नहीं है। इस प्रकार के विवरण तो उपलब्ध हैं कि किस अपभ्रंश रूप से किस आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का विकास हुआ है। इस सम्बन्ध में **'पाइअ-सद्द-महण्णवो'** का विवरण उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि "महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोंकणी भाषा; मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से बंगला, उड़िया और असमिया भाषा; मागधी अपभ्रंश की बिहारी शाखा से मैथिली, मगही और भोजपुरिया, अर्द्धमागधी अपभ्रन्श से पूर्वीय हिन्दी भाषायें अर्थात् अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी; शौरसेनी अपभ्रंश से बुन्देली, कन्नौजी, व्रजभाषा, बांगरु, हिन्दी या उर्दू ये पाश्चात्य हिन्दी भाषायें; नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाड़ी, जयपुरी, मारवाड़ी तथा गुजराती भाषा; पालि से सिंहली और मालदीवन; टाक्की अथवा ढाक्की से लहण्डी या पश्चिमीय पंजाबी; टाक्की अपभ्रंश (शौरसेनी से प्रभावयुक्त) से पूर्वीय पंजाबी; व्राचड अपभ्रंश से सिन्धी भाषा; पैशाची अपभ्रंश से काश्मीरी भाषा[13] का उद्‌गम हुआ।

यद्यपि यह विवरण भी केवल ऐतिहासिक सम्बन्धों का द्योतन कराने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत है फिर भी इसमें यह दृष्टि तो मिलती ही है कि अपभ्रंश में ही विविध भाषिक धारायें थीं तथा अलग-अलग धारा से किस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की किस प्रमुख शाखा-प्रशाखों का विकास हुआ है। जिस प्रकार हमें अपभ्रंश की अलग-अलग भाषाधारा के वैशिष्ट्य की जानकारी एवं सामग्री प्राप्त नहीं है उसीप्रकार इन धाराओं से निःसृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की किस शाखा का क्या जन प्रचलित स्वरूप था इसका ज्ञान नहीं है।

(४) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में से कुछ भाषाओं में प्राचीन साहित्य अवश्य उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में भी दो सीमायें हैं—

(क) उपलब्ध साहित्य संक्रांतिकाल के प्रथम चरण का न होकर परवर्ती युग का है। हिन्दी में ग्यारहवीं सदी में राउलवेल, उड़िया में १०५१ ई० में अनन्त वर्मा के उरजम शिलालेख, बंगला में १०५० ई० से १२०० ई० तक के चरियागीति, मराठी एवं गुजराती में १२वीं शताब्दी में क्रमशः मुकुन्दराय के गीत तथा शालिभद्र कृत भरतेश्वर-बाहुबलि-रास मिलता है। पंजाबी में तो १२वीं शताब्दी के भी अन्तिम चरण में बाबा फरीद शकरगंज की रचनायें तथा असमिया में १३वीं शताब्दी में जाकर हेम सरस्वती, हरि विप्र, माधव कंदाले तथा शंकरदेव की रचनायें प्राप्त हो पाती हैं।

(ख) इससे लिखित साहित्यिक भाषा के ही स्वरूप का पता चल सकता है; जनजीवन में व्यवहृत तत्कालीन भाषिक रूपों का पता नहीं चलता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार यह यद्यपि निर्विवाद है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विविध रूपों का विकास उनके प्राकृत एवं अपभ्रन्श रूपों से हुआ किन्तु उपर्युक्त कारणों से हम इस विकास यात्रा का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं कर सकते ।

अतएव प्राकृत एवं अपभ्रन्श के साहित्यिक भाषा रूपों की सामान्य उच्चारणगत अभिरचनाओं, व्याकरणिक व्यवस्थाओं एवं संरचनाओं ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को जिस प्रकार सामान्य रूप से प्रभावित किया है यहाँ केवल उसी प्रभाव की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है ।

ध्वन्यात्मक

(१) प्राकृत अपभ्रन्श की ध्वन्यात्मक अभिरचना एवं प्रमुख स्वर-व्यंजन ध्वनियाँ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की केन्द्रवर्ती भाषाओं में सुरक्षित हैं। इसके विपरीत सीमावर्ती आर्यभाषाओं में प्राकृत अपभ्रन्श ध्वन्यात्मक अभिरचना से भिन्न ध्वन्यात्मक विशेषताओं का भी विकास हुआ है ।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) असमिया में दन्त्य एवं मूर्धन्य व्यंजनों की भेदकता एवं वैषम्य समाप्त हो गया है । तालव्य व्यंजन दन्त्य संघर्षो में तथा दन्त्य संघर्षी 'स्' का कोमल तालव्य संघर्षी के रूप में विकास हुआ है ।

(ख) मराठी में 'च' वर्गीय ध्वनियों का विकास दो रूपों में हुआ है तथा स्वरों की अनुनासिकता का लोप हो गया है ।

(ग) केन्द्रवर्ती भाषाओं में पूर्व भारतीय आर्यभाषा की परम्परानुरूप महाप्राण ध्वनियों का उपयोग होता है किन्तु अन्य भाषाओं में सघोष महाप्राण व्यंजनों एवं हकार का भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चारण होता है । इस दृष्टि से डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पूर्वी बंगला में कण्ठनालीय स्पर्श के साथ-साथ आंशिक रूप में विशिष्ट स्वर विन्यास का व्यवहार तथा पंजाबी में स्वर विन्यास परिवर्तन मानते हैं तथा राजस्थानी में ह्-कार की जगह कण्ठनालीय स्पर्श ध्वनि तथा सघोष महाप्राणों के आश्वसित उच्चारण की उपस्थिति से यह अनुमान व्यक्त करते हैं कि राजस्थानी तथा गुजराती में इस प्रकार का उच्चारण कम से कम अपभ्रन्श काल की रिक्थ तो अवश्य ही है ।[१४]

(घ) सिन्धी एवं लहंदा में अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियों का विकास हुआ है ।

(ङ) पंजाबी में तान का विकास हुआ तथा सघोष महाप्राण व्यंजन तानयुक्त अल्पप्राण व्यंजनों के रूप में परिवर्तित हो गए। इस सम्बन्ध में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने डा० सिद्धेश्वर वर्मा के मत का उल्लेख किया है कि श्रुति की दृष्टि से पंजाबी में 'भ, घ, ढ' आदि के परिवर्तन में महाप्राणता सुनायी नहीं पड़ती; बाद के स्वर के साथ श्वास का कुछ परिमाण संलग्न रहता है, जो उसके स्वर-विन्यास की एक विशिष्टता माना जा सकता है ।[१५]

(२) 'ऋ' का उच्चारण पालि युग में ही समाप्त हो गया था। इसका उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'र', 'रि' एवं 'रु' रूप में हुआ। आज भी 'रि' में 'र्' के बाद का 'इ' का उच्चारण अग्र की अपेक्षा मध्योन्मुखी होता है ।

(३) 'ष' वर्ण का मूर्धन्य उच्चारण किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं होता ।

(४) अपभ्रन्श के 'ए' एवं 'ओ' के ह्रस्व उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में सुरक्षित हैं। इसी कारण 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' का उच्चारण मूल स्वरों के रूप में होने लगा है ।

(५) हिन्दी, उर्दू, सिन्धी, पंजाबी, उड़िया, आदि में मूर्धन्य उत्क्षिप्त 'ड़' एवं 'ढ़' विकसित हो गयी है ।

(६) मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में जिन शब्दों में समीकरण के कारण एक व्यंजन का द्वित्व रूप हो गया था, अपभ्रन्श के परवर्ती युग में एक व्यंजन शेष रह गया तथा उसके पूर्ववर्ती अक्षर के स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया। सिन्धी, पंजाबी एवं हिन्दी की बांगरु एवं खड़ी बोली के अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में यह प्रवृत्ति सुरक्षित है। यथा—

कर्म > कम्म > कम्मु > कामु > काम्

(७) अपभ्रन्श में अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति मिलती है। 'पासणाह चरिउ'[१६] से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

महिला / महिल १।१०।१२ ।	जंघा > जंघ ३।२।८ ।
गृहिणी > घरिणि १।१०।४ ।	गम्भीर > गहिर ३।१४।२ ।
पाषाण > पाहण २।१२।६ ।	पुंडरीक > पुंडरिय १७।२१।२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिहारी, काश्मीरी, सिन्धी और कोंकड़ी के अतिरिक्त अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी यह प्रवृत्ति है।

हिन्दी में अकारान्त शब्दों को प्रायः व्यंजनान्त रूप में उच्चरित किया जाता है।[१७]

व्याकरणिक

(१) विभक्ति रूपों की संख्या में कमी

प्राकृत काल में ही विभक्ति रूपों की संख्या में कमी हो गयी थी। विभिन्न कारकों के लिए एक विभक्ति तथा एक कारक के लिए विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने लगा था। एक ओर कर्म, करण, अपादान तथा अधिकरण के लिए षष्ठी विभक्ति का तथा कर्म एवं करण के लिए सप्तमी विभक्ति का तो दूसरी ओर अपादान के लिए तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियों का प्रयोग मिलता है।[१८]

अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की संख्या में और कमी हो गयी। कर्त्ता-कर्म-सम्बोधन के लिए समान विभक्तियों का प्रयोग आरम्भ हो गया। इसीप्रकार एक ओर करण-अधिकरण के लिए तो दूसरी ओर सम्प्रदान-सम्बन्ध के लिए समान विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के विभक्ति रूपों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :

	एकवचन		**बहुवचन**	
			पुल्लिग	**स्त्रीलिंग**
कर्ता–कर्म–सम्बोधन	–अ, –आ, –उ, –ओ		–अ, –आ	–अ, –आ, –उ
	एकवचन		**बहुवचन**	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
करण–अधिकरण	–ए, –एं –एण, –इण –इँ	–एं –इ –हिं	–हिं –एहिं	–हिं
सम्प्रदान–सम्बन्ध	–हो –आसु –स्स	–हे –हि	–हं –आहं	–हं
अपादान	–हो, –हे, –हु	–हे, –हि	–आहुं	–हिं

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में विभक्ति रूपों की संख्या में क्रमशः ह्रास हुआ है। जिन भाषाओं की संश्लिष्ट प्रकृति अभी भी विद्यमान है उनमें विभक्ति रूपों की संख्या अभी भी अधिक है किन्तु जिन भाषाओं ने वियोगात्मकता की ओर तेजी से कदम बढ़ाया है उनमें विभक्ति प्रत्ययों की संख्या बहुत कम रह गयी है। इस दृष्टि से यदि हम मराठी एवं हिन्दी का अध्ययन करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मराठी में संज्ञा शब्द के जहाँ अनेक वैभक्तिक रूप विद्यमान हैं—मुलास (द्वितीया), मुलाने (तृतीया), मुलाला (चतुर्थी), मुलाहून (पंचमी), मुलाचा (षष्ठी), मुलात (सप्तमी), मुला (सम्बोधन) वहाँ दूसरी ओर हिन्दी में पुल्लिग संज्ञा शब्दों में या तो केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए अथवा अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन एवं विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्तियाँ लगती हैं। स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों में केवल अविकारी बहुवचन एवं विकारी बहुवचन के लिए विभक्तियाँ जुड़ती हैं, एकवचन में प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है।[१९]

(२) **परसर्गों का विकास**

अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की कमी के कारण अर्थों में अस्पष्टता आने लगी होगी। कारकों के अर्थों को व्यक्त करने के लिए इसी कारण अपभ्रंश में शब्द के वैभक्तिक रूप के पश्चात् अलग से शब्दों अथवा शब्दांशों का प्रयोग आरम्भ हो गया। यद्यपि संस्कृत में भी **'रामस्य कृते'** तथा प्राकृत में **'रामस्य केरम घरम्'** जैसे प्रयोग मिल जाते हैं तथापि इतना निश्चित है कि अपभ्रंश में परसर्गों की सुनिश्चित रूप से स्थिति मिलती है। करण के लिए-सहुँ, सउं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाणु, सम्प्रदान के लिए—तेहिं, केहिं, अपादान के लिए—लइ,-होन्तउ,-ठिन,-पासिउ, सम्बन्ध के लिए—तण,-तणि,-केरउ तथा अधिकरण के लिए—मज्झे-मज्झि जैसे परसर्गों का बहुल प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में हुआ है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में परसर्गों का विकास हुआ है। इनके प्रयोग में सभी भाषाओं की स्थिति समान नहीं है। आज भी कुछ भाषायें कारकीय अर्थों को परसर्गों से नहीं अपितु शब्द के विभक्तियुक्त रूपों से द्योतित कर रही हैं किन्तु फिर भी परसर्गों का प्रयोग कम या अधिक सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में होता है। जिन भाषाओं में विभक्तियुक्त शब्द द्वारा कारक का अर्थ व्यक्त किया जाता है उनमें भी अलग-अलग कारक के लिए अलग-अलग विभक्ति रूपों का सम्बन्ध सुनिश्चित नहीं है। यथा:—मराठी में एक ही कारक को व्यक्त करने के लिए अनेक विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा एक ही विभक्ति अनेक कारकों का अर्थ व्यक्त करती है।[२०] उसमें भी तृतीया के ने,-नी, पंचमी के—ऊन,-हून तथा षष्ठी में प्रयुक्त—चा, ची, चे, च्या आदि रूपों को परसर्ग कोटि में रखा जा सकता है। इसी प्रकार बंगला की प्रकृति भी अपेक्षाकृत संश्लिष्ट है किन्तु वहाँ भी दिया, द्वारा, के दिया, संगे, हइते, थेके जैसे शब्दांशों की स्थिति परसर्गों की ही है। यथा:—

मन **दिया** पढ़ (मन से पढ़ो); तोमा **द्वारा** हाइवे ना (तुमसे नहीं होगा)
बहू **के दिया** गंधाउ (बहू से रसोई बनवाओ)
आमी बंधु **संगे** देखा करिते गल (मैं मित्र से मिलने गया)
बाड़ी **हइते** चलिया गेल (घर से चला गया)
बाड़ी **थेके** चलिया गेल (,, ,,)।[२१]

गुजराती में भी सम्प्रदान में 'माटे' तथा संबंध के लिए ना, नी का प्रयोग होता है। पंजाबी में भी संबंध में 'दा', 'दी', का प्रयोग होता है।

परसर्गों के प्रयोग के संबंध में हिन्दी की स्थिति अधिक स्पष्ट है। हिन्दी में संज्ञा शब्दों में कारकीय अर्थों को विश्लिष्ट प्रकृति के परसर्गों द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।

हिन्दी में परसर्गों का विकास आरम्भ से ही अधिक हुआ। हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में ही विभिन्न कारकीय रूपों को सम्पन्न करने के लिए परसर्गों का प्रयोग मिलता है। कर्त्ता के अर्थ में डा० उदयनारायण तिवारी ने चंदबरदाई की भाषा में 'ने' का प्रयोग स्वीकार किया है।[२२] कीर्तिलता की भाषा में कर्त्ता के अर्थ में—आ,-ए,-ओ का प्रयोग हुआ है।[२३]

कर्म के अर्थ में 'को' का प्रयोग ११वीं सदी से राउलबेल में मिलने लगता है। बीसलदेव रास[२४] में 'नूं' एवं कीर्तिलता[२५] मे 'हि,' 'हिं' का प्रयोग कर्मकारक के अर्थ में हुआ है।

करण के अर्थ में कीर्तिलता में[२६] 'ए' 'एन' 'हि' का पृथ्वीराजरासो[२७] में 'ते', 'वाचा', 'से' 'सहुँ', 'सूँ', 'सौं', तथा खुसरो[२८] के काव्य में 'से' का प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार की स्थिति अन्य कारकीय अर्थों को व्यक्त करने के सम्बन्ध में है।

(३) भाषा प्रकृति अर्द्ध अयोगात्मक

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की विवेचना करते समय प्रायः विद्वानों ने उन्हें अयोगात्मक भाषायें कहा है। यह ठीक है कि 'हिन्दी' ने अपभ्रंश की अर्द्ध-अयोगात्मक स्थिति की अपेक्षा अयोगात्मकता की ओर अधिक विकास किया है तथापि भाषा-प्रकृति की दृष्टि से आज भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषायें अर्द्ध-अयोगात्मक हैं। शब्द के वैभक्तिक रूप भी मिलते हैं तथा परसर्गों का भी प्रयोग होता है। कारकीय रूपरचना में विभिन्न भाषाओं में विभक्तियाँ संश्लिष्ट रूप में भी व्यवहृत होती हैं। उदाहरणार्थ, सिन्धी एवं पंजाबी में अपादान एवं अधिकरण कारकों में; गुजराती में करण एवं अधिकरण में, मराठी में करण, सम्प्रदान तथा अधिकरण में तथा इसी प्रकार उड़िया में अधिकरण में विभक्तियों का संयोगात्मक रूप द्रष्टव्य है। बंगला में भी सम्बन्धतत्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है।

हिन्दी में भी सर्वनाम रूपों में कर्म सम्प्रदान में इसे, उसे, इन्हें, उन्हें, तुझे जैसे रूप मिलते हैं जिनकी प्रकृति संश्लिष्ट है। यह बात अलग है कि हिन्दी में इनके वियोगात्मक रूप भी उपलब्ध है यथा—इसको, उसको, उनको, इनको तुझको। इसी प्रकार वर्तमान सम्भावनार्थ—पढ़ूँ, पढ़े, पढ़ें, पढ़ो तथा आज्ञार्थक—पढ़ना, पढ़ियेगा, पढ़ो, पढ़ में संयोगात्मकता की स्थिति देखी जा सकती है।

(४) नपुंसक लिंग की स्थिति

अपभ्रंश काल में नपुंसकलिंग का लोप हो गया था। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में मराठी एवं गुजराती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को छोड़कर शेष सभी में नपुंसकलिंग नहीं है। सिंहली में प्राणी तथा अप्राणीवाची आधार पर प्राणवान तथा प्राणहीन दो लिंग हैं जो द्रविड़ परिवार की भाषाओं के प्रभाव के सूचक प्रतीत होते हैं। शेष में पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग दो लिंग हैं। इनमें भी बंगला एवं उड़िया में देशज शब्दों में लिंग विधान शिथिल है। जान बीम्स के अनुसार इनमें तत्सम शब्दों को छोड़कर शेष शब्दों में लिंग व्यवस्था नहीं है।[२९]

(५) बहुवचन द्योतक शब्दावली

सिंधी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी के अतिरिक्त शेष अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कर्ताकारक के शब्दों में बहुवचन का द्योतन विभक्तियों से न होकर बहुवचन द्योतक शब्दों अथवा शब्दांशों से व्यक्त होने लगा है। उदाहरणार्थ, बंगला में "सकल" यथाकुक्कुर सकल (कुत्ते)। इसी प्रकार उड़िया में "मनि" असमिया में "बीर" मैथिली में "सम" एवं भोजपुरी में "लोगनि" इत्यादि शब्द रूप बहुवचन द्योतक हैं।

पश्चिमी हिन्दी, सिन्धी, मराठी में कर्ताकारक बहुवचन के वैभक्तिक रूप उपलब्ध हैं। यथा—

सिन्धी—एकवचन—पिउ बहुवचन—पिउर
मराठी—एकवचन—रात बहुवचन—राती
हिन्दी—एकवचन—लड़का बहुवचन—लड़के

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं में भी बहुवचन को स्वतन्त्र शब्दों द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यथा—

हिन्दी—एकवचन—राजा बहुवचन—राजा लोग
मराठी—एकवचन—दीर्घ बहुवचन—दीर्घ जण

इस प्रकार की प्रवृत्ति संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम रूप में अधिक है। यथा—पश्चिमी हिन्दी—हम लोग। भोजपुरी—हमनीका। मागधी—हमनी। मैथिली—हमरा सम। बंगला—आमि सब।

आधुनिक भारतीय भाषाओं की यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन भाषाओं की व्यवस्था से अवश्य भिन्न है तथा अयोगात्मकता की ओर उन्मुख होने का सूचक है।

(६) प्राकृत एवं अपभ्रंश के क्रियारूप

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की क्रिया संरचना का प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में वर्तमान अथवा वर्तमान सम्भावनार्थ काल एवं आज्ञार्थक रूपों पर पड़ा है।

अपभ्रंश में वर्तमान काल द्योतक उत्तम पुरुष—उं,-हुँ, मध्यम पुरुष—हिं,-हु एवं अन्य पुरुष-अह,—हिं,-अन्ति विभक्तियाँ थीं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ये प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

	पुरुष वचन	हिन्दी	गुजराती	मराठी	बंगला	उड़िया	पंजाबी
उत्तम पुरुष	एकवचन	—ऊँ	—ऊँ	—एँ	—इ	—अइं	—आं
	बहुवचन	—एँ	—इये	—ओं —ऊँ	—इ	—उ	—अय
मध्यम पुरुष	एकवचन	—ए	—ए	—अस	—इस	—उ	—ए
	बहुवचन	—ओ	—ओ	—आ	—अ	—अ	—ओ
अन्य पुरुष	एकवचन	—ए	—ए	—ए	—ए	—अइ	—ए
	बहुवचन	—एँ	—ए	—अत	—एन	—अन्ति	—अण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक भारतीय भाषाओं के वर्तमान आज्ञार्थक रूपों का विकास भी मध्यकालीन भारतीय क्रियारूपों से हुआ है।

अपभ्रंश में भविष्यकालिक रूपों की रचना में धातु में विभक्ति लगने के पूर्व "इस्स" अथवा "इह" प्रत्यय जुड़ता था। गुजराती—करीश,-करिशुं,-करशे आदि रूपों में "इस्स" का तथा हिन्दी की ब्रज आदि बोलियों के—करिहौं, -करिहैं आदि में "इह" का प्रभाव विद्यमान है।

(७) क्रिया के कृदन्तीय रूपों का प्रयोग

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल में भूतकालिक रचना के कई प्रकार थे। लङ्० से असम्पन्न भूत, लुङ्० से सामान्यभूत तथा लिट् से सम्पन्न भूतकाल की रचना होती थी। उदाहरणार्थ गम् धातु के रूप अगच्छत्, अगमत् एवं जगाम बनते थे। इनमें क्रियारूप विद्यमान था।

प्राकृत अपभ्रंश युग में इनके बदले भूतकाल भावे या कर्मणि-कृदन्त "गत" लगाकर बनाया जाने लगा।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कर्मणि कृदन्त रूप तो विद्यमान हैं ही; कृदन्तीय रूपों से काल रचना होने लगी है।

अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में वर्तमानकालिक कृदन्तीय रूप में पुरुष एवं लिंगवाचक प्रत्यय लगाकर कालरचना होती है। यथा—हिन्दी—करता। गुजराती—करत। बंगला—करित। मराठी—करित। उड़िया—करन्त।

इसी प्रकार भूतकालिक कृदन्तीय रूपों से भी कालरचना सम्पन्न होती है। अपभ्रंश में भूतकालिक कृदन्त रूप विशेषणात्मक रूप में पूर्ण क्रिया के स्थान में भी व्यवहृत होने लगे थे। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में हिन्दी—गया, गुजराती—लीधुं जैसे रूप वर्तमान है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से बंगला, उड़िया, असमिया, भोजपुरी, मैथिली, मराठी आदि में भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय "ल" जुड़ता है। यथा—बंगला—गेल, होइल, मराठी—गेलों, गेलास, भोजपुरी—मारलो, मारलास। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश में हुआ है। राउलवेल की भाषा में इसका प्रयोग देखा जा सकता है।[30]

(८) क्रियाओं में लिंगभेद

अपभ्रंश में कृदन्ती रूपों में लिंगभेद किया जाता था। हिन्दी जैसी भाषाओं में क्रियाओं में लिंगभेद का कारण अपभ्रंश के कृदन्तीय रूपों का क्रिया रूपों में प्रयोग है। कृदन्त रूपों को क्रिया रूपों में अपनाने के कारण हिन्दी में पढ़ता; पढ़ती; पढ़ा आदि क्रियाओं में लिंगभेद मिलता है। मराठी में मी मी जातो (मैं जाता हूँ) एवं मी जाते (मैं जाती हूँ) तथा तू जातोस (तू जाता है) एवं तू जातेस (तू जाती है) क्रियाओं में लिंगभेद द्रष्टव्य है।

(९) संयुक्त कालरचना एवं संयुक्त क्रिया निर्माण

हिन्दी जैसी भाषाओं में मूल धातुओं में प्रत्यय लगाकर कालरचना की अपेक्षा वर्तमानकालिक कृदन्त एवं भूतकालिक कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाओं को जोड़कर विविध कालों की रचना की जाती है। इसी प्रकार क्रिया के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिये मुख्य क्रिया रूप के साथ सहकारी क्रियाओं को संयुक्त किया जाता है। मध्य-भारतीय आर्यभाषाकाल तक इस प्रकार की भाषायी प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। इस कारण विद्वानों ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में संयुक्त काल रचना एवं संयुक्त क्रिया निर्माण को द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव का सूचक माना है। इस सम्बन्ध में मेरा यह अभिमत है कि हिन्दी ने इस परम्परा को परवर्ती अपभ्रंश परम्परा से स्वीकार किया है। संयुक्त काल एवं संयुक्त क्रिया निर्माण की प्रवृत्ति 'उक्त व्यक्ति प्रकरण' एवं 'राउलवेल' की भाषा में दिखायी देती है और इसी का विकास हिन्दी में हुआ है। परवर्ती अपभ्रन्श में इस प्रकार की व्यवस्था भले ही द्रविड़ परिवार की भाषाओं के प्रभाव के कारण आयी हो।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ नाट्यशास्त्र १८।३४-३५।
२ नाट्यशास्त्र १८।३६-४०।
३ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। —काव्यादर्श १।३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4 Introduction to Karpūrmanjarī p. 75 University of Calcutta (1948).

५ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १०३ (१९६३) तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, दिल्ली

6 Manomohan Ghosh, Mahārāṣtrī, a late phase of Śauraseni, Journal of the Department of Letters of the Calcutta University, Vol. xxxii. 1933.

७ गरीयानपशब्दोपदेशः । एककस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः ।
तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशाः ।
—(पातंजल, महाभाष्य १।१।१) ।

८ सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कु भादानकाश्च (काव्यमीमांसा, अध्याय १०)

९ सुराष्ट्र त्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पित सौष्ठवम् ।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृत वचांस्यपि (काव्यमीमांसा, अध्याय ७)

१० "भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश" (काव्यालंकार २।१२) ।

११ स चान्यरूपनागराभीर गाम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थं मुक्तं भूरिभेद इति ।

१२ ब्राचडौ लाट वैदर्भानुपनागर नागरो बार्बरावन्त्यपांचालटांक्कमालवकैकयाः । गौड़ौद्रवैनपाश्चात्यपांड्यकौन्तल सैंहला । कलिंग्यप्राच्य कार्णाटिकां च द्राविडगौर्जराः । आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्म भेदव्यवस्थिताः सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वेतालादि प्रभेदताः (प्राकृत सर्वस्व २) ।

१३ पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ, पाइअ-सद्द-महण्णवो (प्राकृत शब्द महार्णवः) कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति संवत् १९८५ (सन् १९२८ ई०)

१४ दे० भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १२२-१३२ ।

१५ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १२७-१२८ ।

१६ पासणाहचरिउ सम्पादक—प्रफुल्लकुमार मोदी (सन् १९६५) ।

१७ डा० महावीरसरन जैन, परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० २०-२२ ।

१८ दे० (१) कोमलचन्द जैन, प्राकृत-प्रवेशिका, पृ० ५८ ।
(२) पं० ऋषिकेश भट्टाचार्य, प्राकृत ग्रामर, पृ० १२८ ।

१९ डा० महावीर सरन जैन, हिन्दी संज्ञा, भाषा, हिन्दी भाषा विशेषांक ।

२० महादेव मा० बासुतकर, मराठी की कारक व्यवस्था, गवेषणा, पृ० ८४, वर्ष १०, अंक २० ।

२१ सरोजिनी शर्मा—हिन्दी और बंगला के परसर्गों का व्यतिरेकात्मक अध्ययन, गवेषणा, पृ० ९३-११०, वर्ष १०, अंक २०

२२ सं० उदयनारायण तिवारी—वीरकाव्य, पृ० १६५ : सं० २०१२ ।

२३ सं० वासुदेवशरण अग्रवाल—कीर्तिलता २।२२८, २।२१८। ४।२४ ।

२४ सं० उदयनारायण तिवारी—वीर काव्य, पृ० २२० ।

२५ सं० वासुदेवशरण अग्रवाल—कीर्तिलता २।२७, ३।७८ ।

२६ वही—क्रमशः १।५०; १।४६; ४।४० ।

२७ सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवरसिंह —संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० २५, ३१, ३२, १०८ ।

२८ सं० बालकृष्ण राव —हिन्दी काव्यसंग्रह (खुसरो), पृ० २७ ।

29 John Beams, A Comparative Grammar of the Modern Indian Aryan Languages, p. 177.

३० देखिए डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, राउलवेल में प्रयुक्त क्रियाएं, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक, पृ. ४५७, वर्ष ६६, अंक २-३-४ (सम्वत् २०१८)

☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org